

और न्यायालयों के श्रेणी क्रम की देश में स्थापना के साथ पूर्व निर्णय का अनुसरण भी प्रारंभ हुआ, जिसका सर्वोच्च न्यायालय प्रिवी काउंसिल था। भारत सरकार अधिनियम, 1935 के अंतर्गत एक संघ न्यायालय (Federal Court) की स्थापना की गई, जिसकी धारा 212 में निम्न उपबंध किया गया—

“संघ न्यायालय द्वारा और प्रिवी काउंसिल के किसी निर्णय द्वारा घोषित विधि, जहां तक वह लागू होने योग्य हो, ब्रिटिश भारत में समस्त न्यायालयों पर आबद्धकर रूप में मान्य की जाएगी और अनुसरण की जाएगी और जहां तक इस अधिनियम या उसके अधीन किसी ऑर्डर-इन-काउंसिल या किसी विषय के जिनकी बाबत संघ-विधान-मंडल को संघ में सम्मिलित राज्य में, राज्य के संबंध में विधियां बनाने की शक्ति प्राप्त है।”

इस प्रकार देश में संघ न्यायालय के विनिश्चय उसके नीचे के सभी न्यायालयों पर आबद्धकर थे। इसी प्रकार प्रिवी काउंसिल के निर्णय स्वयं संघ न्यायालय एवं उसके अधीनस्थ न्यायालयों पर आबद्धकर थे। वर्ष 1947 में देश की स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत का संविधान, 1950 लागू होने पर संघ न्यायालय के अस्तित्व को देश के उच्चतम न्यायालय के रूप में बनाए रखा गया और देश के अन्य राज्यों में स्थापित उच्च न्यायालयों, सत्र न्यायालयों, मजिस्ट्रेटों के न्यायालयों को इसके अधीनस्थ रखते हुए **अनुच्छेद 141** में यह उपबंध किया गया कि “उच्चतम न्यायालय के द्वारा घोषित विधि भारत राज्य क्षेत्र के भीतर सब न्यायालयों पर बंधनकारी होगी।” यही स्थिति आज तक विद्यमान है।

इस संबंध में निम्न बातें महत्वपूर्ण हैं—

(1) उच्चतम न्यायालय के निर्णय देश के सभी उच्च न्यायालयों और उनके अधीनस्थ न्यायालयों पर आबद्धकर हैं।

(2) उच्चतम न्यायालय के वृहत्तर पीठ का विनिश्चय उसकी ही निम्नतर पीठ पर आबद्धकर होता है।

(3) उच्च न्यायालय के निर्णय उसकी अधिकारिता के भीतर सभी अधीनस्थ न्यायालयों पर आबद्धकर होते हैं।

(4) किसी एक उच्च न्यायालय का निर्णय किसी दूसरे उच्च न्यायालय के लिए केवल **प्रेरणात्मक (Persuasive)** हो सकता है किंतु **बाध्यकारी नहीं**।

(5) किसी उच्च न्यायालय की बृहद पीठ का निर्णय उसी उच्च न्यायालय की निम्नतर पीठ पर आबद्धकर होता है, किंतु यदि विनिश्चय समपीठ का है, तो उसके विरुद्ध मत नहीं अपनाया जा सकता है। तब मामले को विनिश्चय के लिए बृहद पीठ को सुपुर्द कर दिया जाएगा (**श्री भगवान बनाम रामचंद्र, AIR 1965, SC 1767**)।

(6) स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व के संघ न्यायालय के निर्णय उपर्युक्त सिद्धांत के अनुसार तब तक बाध्यकारी होंगे जब तक कि उच्चतम न्यायालय के द्वारा उन्हें **उलट (Overruled)** नहीं दिया जाता है। यही स्थिति प्रिवी काउंसिल के निर्णय की भी है। इस संदर्भ में भारतीय संविधान का **अनुच्छेद 225** समर्थनकारी उपबंध करता है।

(7) उच्चतम न्यायालय स्वयं अपने निर्णय से आबद्धकर नहीं है और मामले का पुनर्विलोकन अथवा न्यायिक पुनर्विलोकन अथवा पूर्ण न्याय के लिए अपने निर्णय की समीक्षा कर उसे परिवर्तित कर सकता है किंतु पीठ की स्थिति का सम्मान किया जाएगा।

सारतः यह कि समान तथ्यों और विधि पर उच्चतम न्यायालय का कोई पूर्ववर्ती विनिश्चय परवर्ती मामले में उन विषयों पर न्यायालय पर आबद्धकर है (**कामलेश्वर बनाम कन्हैया लाल, AIR, 1975, S.C. 907**)। किंतु यह स्वयं समान पीठ के अपने विनिश्चय या संघ न्यायालय या प्रिवी काउंसिल के निर्णय से आबद्ध नहीं है।

**पूर्व निर्णय के सिद्धांत**—पूर्व निर्णय न्यायालयीय विनिश्चय का विषय होने के कारण इस क्षेत्र में अपनाए जाने वाले सिद्धांतों का उल्लेख किया जाना अतिआवश्यक है। इस संबंध में निम्न सिद्धांत विचारणीय हैं—

**1. आगमनात्मक एवं निगमनात्मक पद्धति (Inductive and deductive Method)**—जब कोई मामला विनिश्चित करने के पूर्व न्यायाधीश अपने द्वारा या किसी वरिष्ठ न्यायालय द्वारा समान प्रकृति के पूर्व विनिश्चित मामलों का अवलोकन करते हुए, उस विशेष मामले से वे सामान्य नियम निकालते हैं और उन्हें अपने समक्ष के मामलों पर लागू करते हैं और तदनुसार उसको विनिश्चित करते हैं, तो इस प्रक्रिया को ‘**आगमनात्मक पद्धति**’ कहा जाता है। इस पद्धति को ही पूर्व-निर्णय का आधार माना

जाता है और इस प्रकार निष्कर्षित विधि (निर्णयज विधि) विधि के स्रोत के रूप में जानी जाती है। इसकी प्रवृत्ति एक निर्णय से निर्णय की ओर होता है।

किंतु जब न्यायाधीश मामलों को किसी संहिता, जो प्रश्नगत मामले में लागू है, में अधिकथित विधि के अनुसार ही निर्णय करता है और वह समान प्रकृति के पूर्व विनिश्चित मामलों का अवलोकन नहीं करता है तब इस पद्धति को **निगमनात्मक पद्धति** कहते हैं। इसकी प्रवृत्ति संविधि या विधि से विनिश्चय की ओर होती है।

**2. निर्णयाधार और इतरोक्ति (Ratio decidendi and Obiter dictum)**- निर्णयाधार का तात्पर्य है विनिश्चय का आधार अथवा विनिश्चय के लिए कारण। जबकि इतरोक्ति का तात्पर्य है विधि की कोई राय जो विनिश्चय के लिए आवश्यक नहीं है। **प्रो. गुडहार्ड** के अनुसार, “न्यायाधीश एक पूर्वनिर्णय में तात्विक तथ्यों के आधार पर तथा अतात्विक तथ्यों के बहिष्कृत करने पर जिस निष्कर्ष पर पहुंचता है, वह **निर्णयाधार** है।”

प्रायः ऐसा होता है कि मामलों में कोई प्रश्न अंतर्भूत होता है जिनका सिद्धांतों के आधार पर उत्तर दिया जाना अपेक्षित होता है। उस मामले के तात्विक तथ्यों को ग्रहण करके तथा अतात्विक तथ्यों को बहिष्कृत करके न्यायाधीश के द्वारा उत्तर दिया जाता है। इस प्रकार जो निष्कर्ष निकलता है वह केवल उसी मामले में नहीं अपितु अन्य उन मामलों, जो आधारभूत बातों में विनिश्चित मामले के समान होते हैं, में भी प्रयोज्य होता है। यही सिद्धांत निर्णयाधार कहलाता है। पूर्णनिर्णय के प्रयोजन के लिए यही सिद्धांत प्रवर्तनीय होता है।

दूसरी तरफ उन विवाद्यकों में, जिनमें किसी सामान्य सिद्धांत के अवधारण की आवश्यकता नहीं होती है और प्रश्न का उत्तर उस विशिष्ट मामले की परिस्थितियों के आधार पर दिया जाता है और वह सामान्य प्रयोग के किसी सिद्धांत का अधिकथन नहीं करते हैं, उन्हें इतरोक्ति कहा जाता है। फिलहाल किसी मामले के निर्णयाधार अथवा इतरोक्ति को पृथक करना एक कठिन कार्य माना गया है और इसी कारण पूर्व निर्णय की आलोचना भी की गई है।

चूंकि किसी पूर्ववर्ती विनिश्चय का निर्णयाधार ही पूर्व निर्णय के रूप में किसी पश्चात्वर्ती मामले में विधिक स्रोत के रूप में प्रवृत्त होता है। इसलिए यह पूर्णतया न्यायाधीश का ही कार्य है। संभवतः इसी कारण यह प्रश्न सृजित होता है कि क्या न्यायाधीश विधि का निर्माण करते हैं? इस निमित्त दो सिद्धांत प्रचलित हैं—

**(1) घोषणात्मक सिद्धांत (Declaratory Theory)**- इस मत के मुख्य समर्थक कोक, मैथ्यू, ब्लैकस्टोन, प्रो. हेमोड तथा कार्टर, लॉर्ड ईशर, स्क्रटन आदि हैं, जिनका मत है कि न्यायाधीश केवल विधि की घोषणा करते हैं, निर्माण नहीं। इनके अनुसार न्यायाधीश किसी विशिष्ट प्रश्न (विषय) पर विधि की खोज करते हैं और उसे घोषित करते हैं।

**मैथ्यू** के अनुसार, “विधि निर्माण केवल राजा या संसद ही कर सकता है, कोई न्यायाधीश नहीं”। **लॉर्ड ईशर** ने सार रूप में कहा है कि—

“वस्तुतः न्यायाधीश निर्मित विधि जैसी कोई वस्तु नहीं है, क्योंकि न्यायाधीश विधि का निर्माण नहीं करते हैं.....।” **स्क्रटन** के अनुसार “न्यायालय विधि का प्रशासन करने के लिए बैठता है”।

## 2. निर्माणात्मक सिद्धांत

**न्यायाधीश विधि का निर्माण करते हैं**— बेकन, डॉयसी, ग्रे, सामंड आदि विधिशास्त्रियों का मानना है कि न्यायाधीश विधि का निर्माण करते हैं। **प्रो. डायसी** के अनुसार, “इंग्लैंड की विधि का एक बड़ा भाग (सर्वोत्तम भाग) न्यायाधीश निर्मित विधि है अर्थात् वह उन विषयों से बना है, जो न्यायालयों के निर्णयों से लिए गए हैं।”

फिलहाल **सामंड** ने कुछ संतुलित दृष्टिकोण भी अपनाते हुए माना है कि ‘पूर्व-निर्णय विधि का निर्माण करते हैं साथ ही इसकी घोषणा भी करते हैं। .....मूल पूर्व-निर्णय न्यायालयों द्वारा विधि का शासन करने के साथ ही विधि का विकास करने के अपने विशेषाधिकार के साक्ष्य प्रयोग के परिणाम हैं।’

सत्य है कि वस्तुतः न्यायाधीश प्रत्यक्ष विधि निर्माण नहीं कर सकते, विशेषकर उस विधि प्रणाली में जहां शक्ति पृथक्करणीयता का सिद्धांत लागू है, जैसे भारत। किंतु जहां विधि शून्य है अथवा विधिक रिक्तता है, वहां न्यायिक निर्वचन अथवा पूर्ण न्याय प्रदान

करने के लिए न्यायाधीश तत्कालीन परिस्थितियों एवं उस विशिष्ट मामले के लिए विधि सृजन कर सकता है। ऐसा अनेक मामलों में भारत के उच्चतम न्यायालय के द्वारा किया गया है और अनेक बार विधायिका को उक्त निर्णय के आधार पर ही विधि निर्माण भी करना पड़ा है और तब तक के लिए वह विधि के रूप में प्रवर्तित भी रहा है।

इस संबंध में **केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य, AIR 1973 SC 1463; मेनका गांधी बनाम भारत संघ, 1978 (1) SCC 248; डी.के. बसु बनाम पश्चिमी बंगाल राज्य, AIR 1997 SC 610; विशाका बनाम राजस्थान राज्य, AIR 1997 SC 3011; सेल्वी और अन्य बनाम कर्नाटक राज्य और अन्य, (2010) 7 SCC 263** आदि महत्वपूर्ण वादों का उल्लेख किया जा सकता है जिनमें न्यायालय के 'निर्णयाधार' आज तक मान्य हैं, यहां तक कि इतरोक्ति भी (श्रवण सिंह लांबा बनाम भारत संघ AIR 1995 SC)।

#### पूर्व-निर्णय पर विभिन्न विधिशास्त्रियों के मत

**\*सामंड—** "एक पूर्व-निर्णय के अंतर्गत कही गई या की गई वह प्रत्येक बात सम्मिलित है, जो पश्चात्तवर्ती आचरण के लिए एक नियम प्रस्तुत करती है"।

**\*ग्रे—** "न्यायालय संविधि के मृत शब्दों में जीवन फूंकने का कार्य करते हैं। न्यायाधीश केवल विधि की खोज ही नहीं करते वरन वे विधि का निर्माण भी करते हैं।.....न्यायाधीश ही विधि के वास्तविक निर्माता हैं"। (नेचर एंड सोर्स ऑफ लॉ)।

**\*बेंथम—** "घोषणात्मक सिद्धांत की आड़ में न्यायाधीशगण विधायन के अधिकार को चुरा लेते हैं।.....जिस प्रकार एक व्यक्ति अपने कुत्ते के लिए विधि का निर्माण करता है, उसी प्रकार न्यायाधीशगण विधियों को निर्मित करते हैं"।

#### प्रश्नकोश

- Q.** "एक पूर्वनिर्णय के अंतर्गत कही गई या की गई वह प्रत्येक बात सम्मिलित है, जो पश्चात्तवर्ती आचरण के लिए एक नियम प्रस्तुत करती है"। यह किस विधिशास्त्री ने कहा है?
- A.** सामंड ने।
- Q.** "मेरे विचार में पूर्व निर्णय का पालन, एक नियम होना चाहिए, न कि अपवाद"। यह कथन किसका है?

- A.** कार्डोजो का।
- Q.** पूर्वनिर्णय के बाध्यकारी बल को किसके द्वारा नष्ट या कमजोर किया जाता है?
- A.** निराकृत निर्णय के द्वारा।
- Q.** पूर्व निर्णय के रूप में कौन-सा सिद्धांत बाध्यकारी माना जाता है?
- A.** निर्णयाधार (विनिश्चयाधार)।
- Q.** विनिश्चयाधार का क्या तात्पर्य है?
- A.** 1. विनिश्चय का कारण।  
2. न्यायाधीश द्वारा चुना हुआ विधि का नियम जिस पर विनिश्चय आधारित है।  
3. विधि का नियम जिसे दूसरे बाध्यकारी मानते हैं।
- Q.** 'निर्णीतानुसरण' (Stare decision) के सिद्धांत का अनुपालन मुख्यतः किस देश में होता है?
- A.** इंग्लैंड में।
- Q.** "न्यायाधीश केवल विधि की खोज ही नहीं करते, बल्कि वे विधि का निर्माण (भी) करते हैं" यह मत किसका है?
- A.** ग्रे का।
- Q.** न्यायाधीश विधि का सृजन करते हैं। इस मत के मुख्य समर्थक कौन हैं?
- A.** हार्ट, होम्स, ग्रे।
- Q.** न्यायाधीश एक पूर्व निर्णय में तात्त्विक तथ्यों के आधार पर तथा अतात्त्विक तथ्यों को बहिष्कृत करने पर जिस निष्कर्ष पर पहुंचता है, उसे क्या कहते हैं?
- A.** निर्णयाधार।
- Q.** पूर्व निर्णय के संबंध में सही कथन पूछे गए (प्रश्नानुसार) क्या हैं?
- A.** 1. इतरोक्ति में बाध्यकारी बल नहीं होता है।  
2. किसी मामले के विनिश्चयाधार में बाध्यकारी बल होता है।  
3. पूर्व निर्णय का सृजन न्यायाधीशों के द्वारा किया जाता है।  
4. यदि कोई पूर्व निर्णय किसी अधिनियम से असंगत है, तो वह आबद्धकर नहीं होता है।

5. उच्चतम न्यायालय के द्वारा घोषित विधि भारत में सभी न्यायालयों पर बाध्यकारी होती है।
6. निर्णयानुसरण के सिद्धांत का अर्थ है कि न्यायिक निर्णयों में वह बाध्यकारी होता है।
7. हाउस ऑफ लार्ड्स स्वयं अपने विनिश्चय (निर्णय) से बाध्य नहीं है।
8. पूर्व निर्णय विधि के क्रमिक विकास में सहायता करते हैं।
9. निर्वचन की प्रक्रिया में न्यायाधीश विधि का निर्माण करते हैं।
- Q.** पूर्वनिर्णय के संबंध में कौन-से कथन सत्य नहीं (पूछे गए प्रश्नानुसार) है?
- A.** 1. विनिश्चयाधिकार तथा इतरोक्ति दोनों ही बाध्यकारी बल रखते हैं।  
2. कभी-कभी विधायन के द्वारा भी पूर्व-निर्णय का सृजन किया जाता है।  
3. एक सिविल जज का निर्णय उसी न्यायालय के अन्य सिविल जजों पर बाध्यकारी है।
- Q.** न्यायिक पूर्व निर्णय के घोषणात्मक सिद्धांत के मुख्य समर्थक कौन हैं?
- A.** ब्लैकस्टोन, कोक, सामंड, बेकन।
- Q.** घोषणात्मक सिद्धांत के मुख्य समर्थक कौन नहीं हैं?
- A.** ड्वार्किन, मैथ्यू हेला।
- Q.** "क्या आप जानते हैं वे किस प्रकार (विधि) निर्माण करते हैं? ठीक वैसे ही जैसे एक व्यक्ति अपने कुत्ते के लिए विधि का निर्माण करता है।" यह कथन किस विधिशास्त्री का है?
- A.** जर्मी बेंथम का।
- Q.** क्या अनवधानता के कारण दिए गए कोई निर्णय बाध्यकारी होते हैं?
- A.** नहीं।
- Q.** स्वतंत्रता के पूर्व न्यायिक पूर्व निर्णय के सिद्धांत को दि गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट, 1935 की किस धारा के अंतर्गत मान्यता प्राप्त हुई?
- A.** धारा 212 के अंतर्गत।
- Q.** भारत में पूर्वनिर्णय का सांविधानिक आधार किस अनुच्छेद के द्वारा प्रदान किया गया है?
- A.** अनुच्छेद 141 के द्वारा।
- Q.** उच्चतम न्यायालय के द्वारा घोषित विधि भारत राज्य क्षेत्र के भीतर सभी न्यायालयों पर आबद्धकर है, किंतु उच्चतम न्यायालय अपने विनिश्चयों से आबद्ध नहीं है।" यह अभिनिर्धारण किस वाद में दिया गया?
- A.** बंगाल इन्सूनिटी कं. लिमि. बनाम बिहार राज्य, AIR 1955 SC ।
- Q.** कथन (A) : विनिश्चय आधार बाध्यकारी होता है।  
कारण (R) : इतरोक्ति बाध्यकारी नहीं होता है।  
नीचे दिए गए कूट की सहायता से सही उत्तर संकेतिक कीजिए?
- कूट :**  
(a) (A) और (R) दोनों सही हैं और (R), (A) की सही व्याख्या है।  
(b) (A) और (R) दोनों सही हैं किंतु (R), (A) की सही व्याख्या नहीं है।  
(c) (A) सही है, किंतु (R) गलत है।  
(d) (A) गलत है, किंतु (R) सही है।
- A.** (b)।
- Q.** कथन (A) : पूर्व निर्णय खान (Mine) में सोने की तरह हैं।  
कारण (R) : यह विधि रिपोर्टों में तलाशा जाता है।
- कूट :**  
(a) (A) और (R) दोनों सही हैं तथा (R), (A) का सही स्पष्टीकरण है।  
(b) (A) और (R) दोनों सही हैं किंतु (R), (A) का सही स्पष्टीकरण नहीं है।  
(c) (A) सही है, परंतु (R) गलत है।  
(d) (A) गलत है, परंतु (R) सही है।
- A.** (a)।
- Q.** उच्चतम न्यायालय ने किस वाद में अभिनिश्चित किया है कि उच्चतम न्यायालय के द्वारा दिए गए निर्णय की इतरोक्ति भी सभी निम्नतर न्यायालयों पर आबद्धकारी प्रभाव रखती है तथा वे उसका अनुसरण करने के लिए बाध्य हैं?
- A.** श्रवण सिंह लांबा बनाम भारत संघ, AIR 1995 SC ।

**Q. कथन (A) :** उच्चतम न्यायालय के द्वारा निर्णीत किसी वाद का विनिश्चयाधार सभी उच्च न्यायालयों पर बाध्यकारी है।  
**कारण (R) :** उच्चतम न्यायालय के द्वारा अभिनिर्धारित (प्रतिपादित) विधि भारत भू-क्षेत्र के सभी न्यायालयों पर बाध्यकारी है।

**कूट :**

- (a) (A) और (R) दोनों सही हैं तथा (R), (A) की सही व्याख्या है।  
 (b) (A) और (R) दोनों सही हैं, परंतु (R), (A) की सही व्याख्या नहीं है।  
 (c) (A) सही है, किंतु (R) गलत है।  
 (d) (A) गलत है, किंतु (R) सही है।

**A. (a)।**

### **3. विधायन (Legislation)**

विधिशास्त्र में विधायन को एक महत्वपूर्ण स्रोत माना जाता है। विधायन का तात्पर्य विधि निर्माण से है। प्रायः सभी सभ्य देशों में विधायन की प्रकृति एवं प्रवृत्ति गतिशील अवधारणा के रूप में मान्य है। दूसरा यह कि विधायन में पूर्व निर्णय और रूढ़ि जैसे विधिक स्रोत के तथ्य भी समाविष्ट हो सकते हैं। यही कारण है कि विधान को आधुनिक काल का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्रोत माना जाता है।

विधायन का आंग्ल विधि में संविधि या लिखित विधि और सामान्य विधि के रूप में प्रभेद किया जाता है किंतु भारत या अन्य देशों में ऐसा प्रभेद नहीं है। विश्लेषणात्मक विधिशास्त्र के विचारक यह मानते हैं कि विधि का निर्माण केवल विधायन द्वारा ही किया जा सकता है और न्यायाधीशों के द्वारा विधि-निर्माण विधायक की शक्तियों पर एक अप्राधिकृत अतिक्रमण है तथा यह भी कि रूढ़ियां विधि नहीं, अपितु एक विधिक स्रोत मात्र हैं। दूसरी तरफ ऐतिहासिक विचारधारा के विचारक मानते हैं कि विधायी कृत्य द्वारा विधि निर्माण संभव नहीं है और विधायक केवल रूढ़ियों का संग्रहण एवं उन्हें उत्तम बनाते हैं। किंतु यह पूर्ण सत्य नहीं हो सकता है। निस्संदेह रूप में 'विधायन' एक आधुनिक विधि स्रोत के रूप में प्रस्थापित है और इसका निर्माण राज्य के अस्तित्व के साथ ही प्रारंभ हो जाता है। मेन का भी मानना है कि "आधुनिक

राज्यों की संरचना में प्रधान तथ्य विधायन की शक्ति है।" (अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंस्टीट्यूशन)।

**विधायन के प्रकार—**विधायन के विस्तृत अध्ययन के लिए विधायन को निम्नलिखित रूपों में विभाजित किया जा सकता है—

### **सर्वोच्च विधायन एवं अधीनस्थ विधायन** **(Supreme Legislation and Subordinate Legislation)**

निर्विवादित रूप में विधायन की शक्ति राजनीतिक समुदाय की संप्रभुता में विहित होती है। अतः राज्य की संप्रभु शक्ति द्वारा निर्मित विधि को सर्वोच्च विधायन कहा जाता है। यह प्रत्येक देश के सर्वोच्च शक्ति द्वारा निर्मित होता है। ब्रिटेन की संसद, भारत की संसद सर्वोच्च विधायी तंत्र है और इसके द्वारा निर्मित विधि को सर्वोच्च विधान माना जाता है।

सर्वोच्च सत्ता से इतर तथा उसके निर्देशों के अधीन निर्मित विधि को अधीनस्थ विधायन कहते हैं। यह प्रायः सर्वोच्च सत्ता की प्रत्यायोजित शक्ति के अधीन निर्मित किया जाता है। अधीनस्थ विधियां स्वायत्त विधि, स्थानीय विधि, उपनिवेशिका विधि, न्यायिक नियम या कार्यपालिकीय निर्मित विधि के रूप में हो सकती हैं। सामंड ने भी विधान को दो वर्गों में विभाजित किया है—

- (i) सर्वोच्च विधान (ii) अधीनस्थ विधान

### **प्रत्यायोजित विधायन (Delegated Legislation)**

ज्ञात है कि अधीनस्थ विधायन प्रायः प्रत्यायोजित शक्ति के अधीन ही होता है। अतः इस प्रकार निर्मित विधि को प्रत्यायोजित विधायन की संज्ञा भी दी जाती है। कमेटी ऑफ मिनिस्टर्स पावर, 1932 के अनुसार 'प्रत्यायोजित विधायन' के दो अर्थ होते हैं—

- (i) प्रथम, उस शक्ति का प्रयोग जो नियम बनाने के लिए कार्यपालिका के द्वारा प्रत्यायोजित की जाती है।  
 (ii) द्वितीय, वे नियम या विनियम जो इस प्रकार दी गई शक्ति के अधीन निर्मित किए गए हैं।

सामान्यतः प्रत्यायोजित विधायन का तात्पर्य उच्च विधायी सत्ता (सर्वोच्च विधान) द्वारा प्रत्यायोजित शक्तियों के अधीन कार्यपालिका द्वारा निर्मित विधियों से है।

वस्तुतः सर्वोच्च विधायी सत्ता (संप्रभु) के पास समयाभाव, मामलों की तकनीकीपन, आपातकालीन परिस्थितियों, लचीलापन,

स्थानीय विषयों की प्रवृत्तियां, प्रयोगात्मक परिस्थितियां, कल्याणकारी राज्य की विकसित होती अवधारणाएं आदि जैसे कारणों से देश की जनता के लिए प्रत्येक मामले के लिए प्रत्येक स्थिति में कानून बनाना संभव नहीं हो पाता है। अतः वह कुछ दिशा-निर्देशों के साथ वह अपनी विधि-निर्माण शक्ति को अपने अधीनस्थ को प्रत्यायोजित कर देती है, और इस प्रकार निर्मित की गई विधि ही प्रत्यायोजित विधायन की श्रेणी में आती हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से **ब्रिटेन के लॉ रिफॉर्म एक्ट, 1832** से ही प्रत्यायोजित विधायन का कार्य प्रारंभ हो गया था, किंतु बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से ही राज्य की संकल्पना में परिवर्तन, नित नई-नई समस्याओं का सृजन, जन जागृति, सामाजिक समेकता के सिद्धांत का विकास, युद्ध एवं शांति की परिस्थितियों ने कुछ इस प्रकार की स्थितियों को जन्म दिया कि राज्यों को प्रत्यायोजित विधायन की संकल्पना पर विचार करने के लिए बाध्य होना पड़ा। वर्ष **1932 में ब्रिटेन में मिनिस्टर्स पावर्स** पर कमेटी की रिपोर्ट और द्वितीय विश्व युद्ध (1939) के बाद प्रत्यायोजित विधायन में काफी वृद्धि हुई। हालांकि इस प्रवृत्ति की विधिशक्तियों के द्वारा आलोचना भी की गई। **कीटन** का मानना है कि—

“आज नागरिक और विधिज्ञ को समान रूप से संविधि की औलाद का मुकाबला करना पड़ रहा है, जो उतना ही संत्रासकारी है जितना कि बैंकों की प्रेतात्मक संतान मैकबेथ के लिए थी। उनका सामान्य प्रभाव विधायी शक्ति को पार्लियामेंट से राज्य के बड़े विभागों को आधिकाधिक रूप में अंतरित करना है और विशेष प्रशासनिक अभिकरणों के पक्ष में साधारण न्यायालय की अधिकारिता को वर्जित करना है।”

अतः एक तरफ प्रख्यात विधिशास्त्री जैसे लॉर्ड ह्यूबर्ट, लॉर्ड सैकी, प्रो. कीटन, प्रो. एलेन आदि प्रत्यायोजित विधायन की आलोचना करते हैं जबकि प्रो. राब्सन, डॉ. पोर्ट, प्रो. लॉस्की, सर डब्ल्यू.आर.जेनिंग्स, सर एच. शोष आदि विधिज्ञ इसका समर्थन करते हैं। फिर भी यह स्वीकार्य है कि प्रत्यायोजित विधायन का परित्याग नहीं किया जा सकता है।

### प्रत्यायोजित विधायन के विरुद्ध सुरक्षाएं

यद्यपि प्रत्यायोजित विधायन के कुछ खतरे हैं, जैसा कि प्रो. कीथ ने आशंका व्यक्त की है (अति-प्रत्यायोजन, प्रत्यायोजित विधि

की समीक्षा करने के लिए संसदीय समयाभाव, न्यायिक समीक्षा से वंचन, प्रत्यायोजित विधायन के विरुद्ध उपचार का अभाव इत्यादि) फिर भी इसे विश्व की लगभग सभी विधिक प्रणालियों में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अपनाया जाता है और इसका दुरुपयोग न हो अथवा इसके कारण उत्पन्न खतरों को कम किया जा सके, इसके लिए निम्नलिखित सुरक्षा उपाय अपनाए जाते हैं—

(1) **संसदीय नियंत्रण (Parliamentary Control)**— चूंकि प्रत्यायोजित विधायन स्वयं संप्रभु शक्ति (संसद) के द्वारा प्रत्यायोजित शक्ति के अधीन किया जाता है। इसलिए वह प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष नियंत्रण भी उस पर रख सकता है। अतः इंग्लैंड में जब कोई विधेयक, जो शक्ति के प्रत्यायोजन के लिए उपबंध करता है, सदन के समक्ष होता है, तो उस विधेयक में प्रत्यायोजन के लिए प्रस्तावित शक्तियों को उपांतरित, संशोधित या बिल्कुल अस्वीकृत कर सकता है। इसके अलावा वर्ष **1944 में सलेक्ट कमेटी ऑन स्टेट्यूटरी इंस्ट्रूमेंट** का गठन, जिसका कार्य उक्त संविधि की परीक्षा करना है कि क्या उसे हाउस ऑफ कॉमंस के समक्ष रखे जाने के पूर्व सदन का विशेष ध्यानाकृष्ट किया जाना आवश्यक है? इसी प्रकार **स्टेट्यूटरी इंस्ट्रूमेंट एक्ट, 1946** भी पारित किया गया है, जो उपबंध करता है कि लिखत की एक प्रति उसे लागू होने से पूर्व सदन के समक्ष रखी जाएगी। इस प्रकार संसद के द्वारा प्रत्यायोजित विधायन पर नियंत्रण की प्रक्रिया प्रारंभ हुई। भारत में इसी प्रकार के अनेक नियंत्रण अर्थात् सुरक्षा उपाय किए गए हैं, जिनमें संसदीय सर्वोच्च शक्ति को आरक्षित रखने के साथ, उसे सदन के समक्ष रखे जाने और संसदीय समितियों के द्वारा उनकी समीक्षा किया जाना भी शामिल है।

(2) **न्यायिक नियंत्रण**— न्यायालय प्रत्यायोजित विधायन पर **शक्ति वाह्यता (Ultra Vires)** के सिद्धांत अथवा अपने रिट क्षेत्राधिकार (Writ Jurisdiction) के तहत प्रत्यायोजित विधायन की समीक्षा करते हुए उस पर नियंत्रण कर सकती है और करती है। इसे न्यायिक नियंत्रण माना जाता है।

(3) **प्रकाशन (Publicity)**— प्रत्यायोजित विधायन का प्रकाशन अनिवार्य होता है। यदि ऐसा नहीं किया गया है, तो उसे शक्ति-बाह्य घोषित किया जा सकता है।

### भारत में प्रत्यायोजित विधायन एवं उस पर नियंत्रण

चूंकि भारतीय विधायन पर ब्रिटिश संसद एवं अमेरिकी संविधान दोनों का प्रभाव है, अतः प्रत्यायोजित विधायन पर इनका संयुक्त प्रभाव देखने को मिलता है। भारत में प्रत्यायोजित विधायन दो रूपों में मिलता है—

(1) सशर्त विधायन (Conditional Legislation)

(2) अधीनस्थ विधायन (Subordinate Legislation)

सशर्त विधायन अमेरिकी समाश्रित विधायन का पर्याय है जिसमें ऐसी विधि के निर्माण की शक्ति प्रत्यायोजित होती है जिसकी अनुमति संविधि द्वारा स्वयं किसी विशेष शर्त के पूरा होने पर या विशिष्ट परिस्थितियों में दी गई होती है।

इन स्थितियों में संबंधित प्रशासनिक अधिकारी उक्त स्थिति के अस्तित्व में आने पर उक्त विधि का निर्माण कर सकता है और नियत काल तक प्रभावी रख सकता है। अतः यह तथ्य आधारित विधायन है।

अधीनस्थ विधायन में शक्ति नियमों और विनियमों के प्रख्यायन के लिए दी जाती है। इसमें प्रत्यायोजन विवेकाधिकार का होता है।

#### प्रत्यायोजन के रूप

प्रत्यायोजन निम्न रूपों में हो सकता है—

1. किसी अधिनियम को प्रवर्तन में लाने की शक्ति।
2. अधिनियम से छूट देने अथवा उसके विस्तार को बढ़ाने की शक्ति।
3. प्रयोजन के कथन की परिधि के भीतर आदेशों को जारी करने की शक्ति।
4. नियम, उपनियम, उपविधियां बनाने की शक्ति।
5. करारोपण एवं उद्ग्रहण की शक्ति, इत्यादि।

(बनारसी दास बनाम मध्य प्रदेश राज्य, AIR 1958 SC 909)।

6. प्रत्यायोजित शक्ति का उप-प्रत्यायोजन भी किया जा सकता है, जिसके अंतर्गत नियम बनाने की शक्ति को आगे किसी अन्य अधिकरण को प्रत्यायोजित किया जा सकता है।

फिर भी भारत में प्रत्यायोजन की सीमाएं हैं और वह यह है कि विधि निर्माण की समग्र शक्ति का प्रत्यायोजन नहीं किया जा सकता है। केवल सहायक (Subsidiary) और अनुषांगिक (Ancillary) शक्ति का ही प्रत्यायोजन किया जा सकता है (वीरेंद्र

कपूर बनाम जोधपुर विश्वविद्यालय, 1964 Raj 161 (F.B.)।

प्रत्यायोजन से संबंधित सर्वाधिक चर्चित और मार्गदर्शक वाद इन री डेलही लॉज एक्ट, AIR 1951 SC 332 में भी उच्चतम न्यायालय ने स्पष्ट किया था कि विधानमंडल अपने मूलभूत कृत्यों या शक्तियों को कार्यपालिका को प्रत्यायोजित नहीं कर सकता है और कुछ मार्गदर्शन के अधीन केवल गौण शक्ति का ही प्रत्यायोजन किया जा सकता है। यदि नियम बनाने में राज्य अपने प्राधिकार से परे चला जाता है तो वह नियम अविधिमान्य होगा (राजनारायण सिंह बनाम अध्यक्ष, पी.ए. कमेटी, AIR 1954 SC 579; हमदर्द दवाखाना बनाम भारत संघ, AIR 1960 SC 553)। यदि मामला केवल विवेकाधिकार के प्रत्यायोजन का है तब दुरुपयोग के स्पष्ट मामले के सिवाय न्यायालय हस्तक्षेप नहीं करेगा (इन री डेलही लॉज, AIR 1965 SC 332)।

सारतः भारत में कार्यपालिका विभागीय अथवा अधीनस्थ विधायन की शक्तियों का प्रयोग कर सकती है जब ऐसी शक्तियां उसे विधानमंडल द्वारा प्रत्यायोजित की जाती हैं (राम जवाया बनाम पंजाब राज्य, AIR 1955 SC 549)। वस्तुतः भारत में शक्तिपृथक्करण के सिद्धांत को लचीलेपन के साथ अपनाया गया है, जिसकी सीमाओं के अधीन प्रत्यायोजन और उन पर नियंत्रण की भी अनुमति है, किंतु प्रत्येक दशा में ऐसे विधायन (नियमों) का प्रकाशन समुचित रूप में किया जाना अनिवार्य है (महाराष्ट्र राज्य बनाम एम.एच. जॉर्ज, AIR 1965 S.C. 722)।

विधायन के मुख्य लक्षण—विभिन्न विधिशास्त्रियों के मतानुसार विधायन के निम्नलिखित लक्षण होते हैं—

1. यह राज्य की संप्रभु शक्ति या मुख्य विधायी अंग संसद अथवा विधायिका के द्वारा निर्मित होता है।
2. यह सुविचारित ढंग से निर्मित नियमों का संग्रह (संविधान/संहिता/अधिनियम/नियमावली) है।
3. इसमें आज्ञापक तत्व विद्यमान होता है, जो बाध्यकारी होता है।
4. विधायन प्रारूपिक रूप में लिखित होता है। विपमैन ग्रे के अनुसार, विधायन समाज के विधायी अंगों का प्रारूपिक कथन (Formal Utterances) है, अर्थात् 'यह राज्य के विधायी अंगों की औपचारिक अभिव्यक्ति (घोषणा) है।

### प्रश्नकोश

- Q. 'जो विधायन किसी अन्य विधायी प्राधिकार के द्वारा निरसित, निराकृत या नियंत्रित किए जाने के योग्य नहीं होता है, उसे क्या कहते हैं?
- A. सर्वोच्च विधायन।
- Q. सामंड के अनुसार, उच्चतम विधायन (सर्वोच्च विधायन) से क्या अभिप्रेत है?
- A. संप्रभु अथवा संसद द्वारा निर्मित विधि।
- Q. विधायन के मुख्य लक्षण क्या हैं?
- A. (i) यह राज्य के विधायी अंग संसद या विधायिका द्वारा निर्मित होता है।  
(ii) यह विचारपूर्वक निर्मित नियमों का संग्रह है।  
(iii) इसमें आज्ञापकता का तत्व होता है।
- Q. 'विधायन समाज के विधायी अंगों के औपचारिक कथन हैं'। यह वाक्य किस विधिशास्त्री का है?
- A. चिपमैन ग्रे।
- Q. 'अधिनियमों के प्रयोजनों के लिए' प्रतिनिधि निकाय/प्राधिकारी को विधायी शक्तियों का प्रत्यायोजन क्या कहलाता है?
- A. सशर्त विधायन।
- Q. प्रत्यायोजित विधायन पर मुख्य नियंत्रण क्या है?
- A. (i) संसदीय नियंत्रण।  
(ii) न्यायिक नियंत्रण।  
(iii) प्रत्यायोजित विधायन का प्रकाशन।
- Q. विधानमंडल द्वारा विधि के निर्माण में कौन-सी पद्धति अपनाई जाती है?
- A. आगमनात्मक पद्धति।
- Q. निर्णयज विधियां किस पद्धति से निर्मित होती हैं?
- A. निगमनात्मक पद्धति से।
- Q. कोई ऐसी धारणा, जो यह तथ्य छिपाती है या छिपाने का प्रभाव रखती है कि एक विधि का नियम परिवर्तित हो गया है जब कि विधि का शब्द अपरिवर्तित हो, उसका प्रवर्तन उपांतरित हो, को संज्ञापित करने वाली अभिव्यक्ति को क्या कहा जाएगा?
- A. साम्या।
- Q. विधिशास्त्र में विधिक स्रोत के किस स्रोत को आधुनिकतम स्रोत माना जाता है?
- A. विधायन को।

## अध्याय 4 : विधिक-संकल्पनाएं (Legal Concepts)

विधिक संकल्पनाओं के अंतर्गत विधिशास्त्र की उन मुख्य विधिक अवधारणाओं को सम्मिलित किया गया है, जो प्रारंभ से विधि का विषय-वस्तु रही हैं। इनके अंतर्गत मुख्य विधिक संकल्पनाएं निम्नलिखित हैं—

1. अधिकार और कर्तव्य (Rights and Duties)

2. व्यक्ति : प्राकृतिक और विधिक (Person : Natural and Legal)

3. कब्जा (Possession)

4. स्वामित्व (Ownership)

5. दायित्व (Liability)

### अधिकार और कर्तव्य (Rights and Duties)

'अधिकार' का सामान्य अर्थ विधि द्वारा अनुज्ञेय किसी कार्य से है जिसे कोई व्यक्ति कर सकता है या कोई चीज धारण कर

सकता है। जबकि कर्तव्य का तात्पर्य उस कार्य से है जिसे किसी व्यक्ति को करना चाहिए, जो विधि द्वारा नियत हो भी सकता है अथवा नहीं। यदि वह विधि द्वारा नियत है, तो वास्तविक अर्थ में कर्तव्य होगा अथवा एक नैतिक कर्तव्य होगा। यहां अधिकार और कर्तव्य का तात्पर्य केवल विधिक अधिकार और विधिक कर्तव्य से है, क्योंकि अन्य अधिकारों एवं नैतिक कर्तव्यों के पीछे कोई विधिक अनुशास्ति नहीं होती है और उसके भंग होने पर केवल सामाजिक अनुशास्तियां ही कार्य करती हैं।

विधिक अधिकार की परिभाषा विभिन्न विधिशास्त्रियों ने अलग-अलग दी है। ऑस्टिन के अनुसार—

“अधिकार एक क्षमता है जो विहित पक्ष या पक्षकारों में किसी निर्दिष्ट विधि के कारण होती है और जो किसी पक्षकार या पक्षकारों, जो उस पक्षकार या पक्षकारों से भिन्न है जिसमें यह



निहित है, के विरुद्ध लागू होती है.....या किसी पक्षकार या पक्षकारों पर अधिरोपित कर्तव्य की समनुरूपी होती है।”

इस प्रकार ऑस्टिन के अनुसार, किसी व्यक्ति का अधिकार होना केवल तब ही माना जाएगा जबकि दूसरा या दूसरे व्यक्ति उसके संबंध में कोई कार्य करने से प्रविरत रहने के लिए विधि द्वारा आबद्ध या बाध्य होते हैं। दूसरे शब्दों में प्रत्येक अधिकार का सदैव ही एक तदनुरूपी कर्तव्य होता है।

**हॉलैंड** के अनुसार, “विधिक अधिकार किसी व्यक्ति में निहित वह क्षमता है, जिससे वह राज्य की सहमति एवं सहायता से अन्य व्यक्तियों के कृत्यों को नियंत्रित करवा सकता है।” हॉलैंड के मतानुसार, “विधिक अधिकार को राज्य की शक्ति से वैधानिकता प्राप्त होती है।”

**सामंड** के अनुसार, “अधिकार युक्तता के नियम के द्वारा मान्य और संरक्षित एक हित है।.....यह एक ऐसा हित है जिसका सम्मान करना एक कर्तव्य और जिसकी अवहेलना करना एक दोष है।” अर्थात् सामंड के अनुसार, किसी अधिकार को न्यायिक रूप में प्रवर्तनीय होना चाहिए और यह कि अधिकार एक हित है।

**प्रो. केल्सन** के अनुसार, “विधि में अधिकार जैसी कोई संकल्पना नहीं है।” इसी प्रकार **ड्यूगिट** का मानना है कि “किसी को अपने कर्तव्य को करने के अलावा कोई अधिकार नहीं है, किंतु ऐसा मानना ‘विधिक अधिकार’ के अध्ययन को सीमित कर देगा।” समीक्षात्मक दृष्टि से **पैटन** का मानना है कि “मेरे विचार से अधिकार विधि की एक संतान है—एक प्राकृतिक अधिकार एक ऐसा पुत्र है जिसका कभी कोई पिता नहीं रहा।”

**इहरिंग** ने कहा है कि, “अधिकार विधि द्वारा संरक्षित हित है।” फिलहाल विधिक अधिकार के अध्ययन के लिए दो मुख्य सिद्धांत प्रतिपादित किए गए—

- (1) इच्छा का सिद्धांत (The Will Theory)
- (2) हित का सिद्धांत (The Interest Theory)

### (1) इच्छा-सिद्धांत (The Will Theory)

इस सिद्धांत के अनुसार, अधिकार मानव इच्छा से उत्पन्न होता है। इस सिद्धांत के **मुख्य समर्थक लॉक, हीगल, कान्ट,**

**ह्यूम, हॉलैंड, ऑस्टिन, पोलाक, विनोग्रेडाफ और होम्स** इत्यादि हैं। इसके **अधिकांश समर्थक जर्मनी** में थे।

**ऑस्टिन और हॉलैंड** के अनुसार, ‘इच्छा ही अधिकार का मुख्य तत्व है, जिसका पोलाक और विनोग्रेडाफ भी समर्थन करते हैं। लॉक अन्य संक्राम्य अधिकारों में विश्वास करता था जिन्होंने घोषणा की थी कि ‘व्यक्ति के जीवन के कतिपय क्षेत्रों में राज्य भी हस्तक्षेप नहीं कर सकता है, जिन्हें उसने अन्य संक्राम्य अधिकार माना। उसके अनुसार अधिकार का आधार व्यक्ति की इच्छा है।

**पुत्ता के अनुसार**, ‘विधिक अधिकार किसी वस्तु पर शक्ति है, जो इस अधिकार के माध्यम से उस व्यक्ति की उस व्यक्ति की इच्छा के अधीन किया जाता है जो उस अधिकार का उपभोगकर्ता है।

इस सिद्धांत के **मुख्य आलोचक ड्यूगिट** हैं। उन्होंने सामाजिक समेकता (Social Solidarity) के सिद्धांत का प्रतिपादन करते हुए ‘इच्छा’ के विचार को समाज विरोधी माना। ड्यूगिट ने अधिकार के अस्तित्व को पूर्णतः अस्वीकार करते हुए स्पष्ट कहा कि ‘मनुष्य के अधिकार होते ही नहीं हैं, बल्कि केवल कर्तव्य होते हैं।.....एकमात्र अधिकार जो कोई व्यक्ति धारण करता है वह है ‘कर्तव्य करने का अधिकार’। विधि केवल उन कार्यों या बातों की संरक्षा करने के लिए है जो सामाजिक समेकता को आगे बढ़ाते हैं।’

इसी प्रकार **पैटन** का मानना है कि “विधिक अधिकार की सामान्य संकल्पना में ‘इच्छा’ एक अत्यावश्यक तत्व है, किंतु यही एकमात्र तत्व नहीं है।”

### (2) हित-सिद्धांत (The Interest Theory)

इस सिद्धांत का **प्रवर्तक** महान जर्मन विधिशास्त्री **इहरिंग** को माना जाता है। **सामंड** इस सिद्धांत का **प्रबल समर्थक** है।

**इहरिंग** के अनुसार, ‘अधिकार का आधार ‘हित’ है, ‘इच्छा’ नहीं। विधिक अधिकार विधितः संरक्षित एक हित है। ‘विधि का प्रयोजन कतिपय हितों की संरक्षा करना होता है, व्यक्तियों की इच्छाओं की नहीं।’

**सामंड** ने भी इहरिंग के मतों का समर्थन करते हुए कहा है कि ‘विधिक अधिकार राज्य के नियम (विधि) द्वारा मान्य और

संरक्षित ऐसा हित है जिसका सम्मान करना कर्तव्य है और जिसकी अवहेलना करना एक दोष'।

इस सिद्धांत की भी कुछ विधिशास्त्रियों ने आलोचना की, किंतु अप्रत्यक्ष रूप से इसे स्वीकार भी किया कि राज्य की मान्यता व संरक्षण के बिना कोई अधिकार हमेशा के लिए अस्तित्ववान् नहीं रह सकता है। अतः प्रो. एलेन इस संदर्भ में समन्वित दृष्टिकोण अपनाने पर बल देते हैं। उनके अनुसार, "विधिक अधिकार का सार न तो स्वयं में विधितः प्रत्याभूत शक्ति, न ही स्वयं विधितः संरक्षित हित प्रतीत होता है अपितु एक हित की पूर्ति के लिए विधितः प्रत्याभूत शक्ति प्रतीत होता है।"

### विधिक अधिकार के तत्व (The Elements of Legal Rights)

विधिक अधिकार को चाहे हित के सिद्धांत अथवा इच्छा के सिद्धांत के परिप्रेक्ष्य में अवलोकित कर, उसके तत्वों को निष्कर्षित किया जा सकता है। सामंड ने विधिक अधिकार के निम्नलिखित अनिवार्य तत्व बताए हैं—

1. अधिकार का धारणकर्ता अर्थात् भोक्ता-जिसमें अधिकार निहित है।
2. अधिकार से आबद्ध व्यक्ति अर्थात् जिसके विरुद्ध अधिकार उत्पन्न हुआ, जिस पर सहसंबंधित कर्तव्य होता है।
3. अधिकार की अंतर्वस्तु अर्थात् कार्य या प्रविरति।
4. अधिकार की विषय-वस्तु अर्थात् जिस वस्तु के प्रति अधिकार उत्पन्न हुआ।
5. अधिकार का स्वत्व या हक-अर्थात् जिसके कारण व्यक्ति में अधिकार निहित हुआ।

**हॉलैंड और कीटन** ने केवल उपर्युक्त प्रथम चार तत्वों को ही विधिक अधिकार का तत्व माना है।

### विधिक अधिकार की व्यापकता

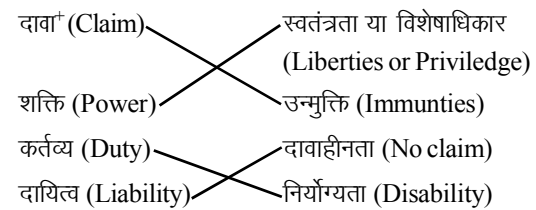
**सामंड** ने विधिक अधिकार को व्यापक अर्थ में भी परिभाषित किया है। उनका मानना है कि प्रत्येक अधिकार विधि द्वारा मान्य एवं संरक्षित हित होने के साथ-साथ प्रत्येक अधिकार में सन्निहित मूल तत्वों का एक उनका सह-संबंधी भी होता है। इस प्रकार सामंड ने अधिकार के चार सुभिन्न

प्रकार और उनके प्रत्येक के चार सह-संबंधी भी बताए हैं, जो निम्न प्रकार हैं—

| अधिकार के प्रकार          | सह-संबंधी                                           |
|---------------------------|-----------------------------------------------------|
| 1. अधिकार (Rights)        | 1. कर्तव्य (Duty)                                   |
| 2. स्वतंत्रता (Liberties) | 2. अधिकारहीनता (No Rights)                          |
| 3. शक्ति (Power)          | 3. अधीनता या दायित्व<br>(Subjection or Liabilities) |
| 4. उन्मुक्ति (Immunities) | 4. निर्योग्यता (Disabilities)                       |

सामंड के उपर्युक्त वर्गीकरण को **होहफेल्ड** ने 'जुरल रिशेंस' की व्याख्या के साथ एक अन्य तालिका द्वारा प्रस्तुत किया जिसे **होहफेल्ड के सिद्धांत** के रूप में जाना जाता है। होहफेल्ड ने विधिक अधिकार संबंधी विभिन्न धारणाओं को उनकी सहवर्ती तथा विपरीतार्थी धारणाओं से संबद्ध करते हुए कहा कि अधिकार का सहवर्ती-कर्तव्य, स्वतंत्रता का सहवर्ती अधिकार शून्यता, उन्मुक्ति का सहवर्ती-निर्योग्यता तथा शक्ति का सहवर्ती-अधीनता या दायित्व है।

अमेरिकन रिस्टेटमेंट ऑफ दि लॉ, के द्वारा स्वीकृत **होहफेल्ड की तालिका** इस प्रकार है\*—



\*कोष्ठक सह-संबंधी की ओर रेखाएं विलोमों को दर्शाती हैं।

+सामंड ने दावा की जगह अधिकार का प्रयोग किया है।

### अधिकार एवं कर्तव्य

उपर्युक्त उल्लेखों से स्पष्ट है कि अधिकार और कर्तव्य संगामी हैं। यदि कोई व्यक्ति किसी अधिकार का दावा करता है, तो निश्चय ही वह किसी अन्य व्यक्ति का उसके अधिकार के प्रति कर्तव्य का भी सूचक होता है, फिर भले ही वह किसी व्यक्ति या व्यक्तियों अथवा राज्य के प्रति (विरुद्ध) ही क्यों न हो। वस्तुतः अधिकार और कर्तव्य एक-दूसरे से इस प्रकार सह-संबद्ध हैं कि